

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३५ अंक-१६०, वर्ष-१४, जनवरी-२०११

अषाढ सुद ४, रविवार दिनांक ८-७-१९७८

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, वचनामृत-९४ प्रवचन-३२

'ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है,...' यहाँ भी यही आया। ध्रुव जो ज्ञान का सागर, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु (है) वह ध्रुव- हमेशा रहनेवाला है। 'ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से...' एकाग्रता पर्याय है। त्रिकाली ध्रुव में एकाग्रता से (निर्मल पर्याय होती है)। राग में एकाग्रता से दुःख होता है और ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। राग में एकत्व होने से दुःख उत्पन्न होता है और ध्रुव तत्त्व में एकाग्रता होने से निर्मल पर्याय नाम आनन्द की पर्याय उत्पन्न होती है। समझ में आया ? सूक्ष्म बातें करते हैं और कहते हैं समझ में आया ? बापू ! ऐसा मार्ग है, भाई ! आहा...!

ध्रुव तत्त्व पर एकाग्रता से (अर्थात्) शाश्वत चीझ पर दृष्टि करने से, वहाँ एकाग्रता होने से निर्मल वीतरागी आनन्द की दशा प्रगट होती है। रागपर एकाग्र होने से दुःख की दशा उत्पन्न होती है, आकुलता की दशा उत्पन्न होती है। भगवान ध्रुव आत्मा, चारों ओर दृष्टि समेटकर ध्रुव पर दृष्टि करने से, उसमें एकाग्र होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उसमें से तो वीतरागी अतीन्द्रिय आनन्द की दशा प्रगट होती है। आहा..हा..! अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो, वह धर्म (है)। आहा..हा..! ऐसी महंगी चीज (है)।

ध्रुव तत्त्व में। लेकिन वह तत्त्व है ना ? आत्मतत्त्व है ना ? है तो ध्रुव है ना ? बदलती पर्याय भले हो। परन्तु वस्तु की अपेक्षा से ध्रुव है ना ! आहा..! सोना सोनेरूप कायम रहकर, कडा, कुंडल की अवस्था होती है। कडा, कुंडल की अवस्था ध्रुव नहीं। सोना सोनारूप हमेशा है। ऐसे अवस्था पलटती है परन्तु वस्तु की अपेक्षा से हमेशा ध्रुव है। आहा..हा..! ऐसा उपदेश ! यह मार्ग तो ऐसा है, भाई ! वर्तमान में तो ये करो, व्यवहार करो, व्यवहार से निश्चय हो जायेगा। निवृत्ति लो, स्त्री-कुटुंब छोड़ो, सन्यास लो, ये लो... धूल में भी नहीं है। आहा..हा..! बाहर का त्याग-ग्रहण तो स्वरूप में है ही नहीं।

त्याग उपादानशून्यत्व शक्ति। आत्मा में ऐसी एक शक्ति-गुण है कि रजकण का ग्रहण करना और रजकण का छोड़ना ऐसा आत्मा में है नहीं। परद्रव्य को कैसे ग्रहे और कैसे छोड़े ? मात्र विकारी दशा को माना है, ग्रहण किया है, पर्याय में अपनी है ऐसा माना है। अपने ध्रुवपर दृष्टि करने से राग का त्याग दृष्टि में होता है वह (वास्तविक) त्याग है। बाकी बाहर का त्याग (किया), कपड़े बदलकर सन्यासी हो गया और पीले कपड़े पहन लिये (वह त्याग नहीं है)। 'रजनीश' पीले कपड़े पहनता था ना ? अरे..! शरीर ही जहाँ उसका है नहीं तो कपड़े उसके कहाँ से हो गये ?

'ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही,...' एकाग्रता से ही। राग की एकाग्रता से निर्मल पर्याय कभी नहीं होती।



व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि कोई भी विकल्प हो उस राग से कभी निर्मल पर्याय नहीं होती। क्योंकि राग स्वयं मलिन है। मलिनमें से मलिन पर्याय होती है। भगवान त्रिकाली आनन्द शुद्ध निर्मल है उसमें एकाग्रता होने से निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शांति ऐसी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। ये निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह धर्म है। राग प्रगट हुआ वह अधर्म है। आहा..हा..! आया ?

**'विभाव का अभाव होता है,...** दो बात कही। व्यय, उत्पाद और ध्रुव, तीनों बात डेढ़ पंक्ति में ले ली। क्योंकि वस्तु 'उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तं सत्' (है)। नई अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था व्यय होती है और अपनी चीज ध्रुव स्वरूप से हमेशा रहती है। आहा..हा..! अब ध्रुव जो चीज है उसमें एकाग्र हो तो उसमें तो निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उत्पाद और विभाव जो राग है उसका व्यय होता है और ध्रुव का तो आश्रय है। आहा..हा..! समझ में आया ? यह सूत्र तो बहुत प्रसिद्ध है - 'उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तं सत्'।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव (नाम का) भी आत्मा में एक गुण है। ४७ शक्ति। थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो अवलदोम की बात है। संसार की परिपाटी से यह भिन्न चीज है। क्या कहते हैं ? अंतर में आत्मा जो है उसमें ऐसा एक गुण है, ऐसी शक्ति है कि उत्पाद-व्यय-ध्रुव हो ऐसा उसका एक गुण है। उत्पाद और व्यय करना पड़े ऐसा नहीं। आहा..हा..! भगवानआत्मा ध्रुव में एक ध्रुव गुण है कि जिसमें एकाग्र होने से उत्पाद-व्यय-ध्रुव के कारण निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व की विभाव पर्याय का नाश होता है और ध्रुव का आश्रय हमेशा रहता है। दृष्टि में तीन नहीं हैं, दृष्टि में ध्रुव एक (है)। लेकिन दृष्टि ध्रुव पर होने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व की मलिन पर्याय का व्यय-नाश होता है। आहा..हा..!

जैसे लोहा है, लोहा। लोहा... लोहा... लोहा..! काट है ना ? जंग... जंग। ऐसे छैनी मारे, छैनी। छैनी मारने से काट का, जंग का व्यय होता है और अन्दर जो प्रकाश है उसकी उत्पत्ति होती है और लोहा तो हमेशा रहता है। आहा..हा..! लोहा होता है ना ? लोहा। उसमें

जंग होता है ना ? जंग। हमारी भाषा में काट कहते हैं। जब जंग पर छैनी मारे, छैनी... छैनी तो जंग के अंश का नाश होता है और लोहा तो सफेद है ना ? स्टील आदि। सफेद पर्याय उत्पन्न होती है, जंग का नाश होता है, लोहस्वरूप तो हमेशा है।

ऐसे भगवानआत्मा ध्रुव पर दृष्टि करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है। ध्रुव तो है ही। उसकी एकाग्रता से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है (वह) उत्पाद (हुआ)। पूर्व का विभाव है उसका व्यय होता है (वह) व्यय (है)। और हमेशा रहनेवाली चीज पर आश्रय है (वह) ध्रुव (है)। तीनों वहाँ आ गये। आहा..हा..! समझ में आया ? एक सूक्ष्म बात आयी, फिर दूसरी, फिर तीसरी... इसमें पकड़ना कैसे ? लोगों को अभ्यास नहीं है। सब पाप का अभ्यास। दुनिया के सयाने।

प्रश्न :- कमाई करना पाप है ?

उत्तर :- कमाई करना पाप का ढेर है। दवाखाने में विकल्प करना कि, इसकी दवा, उसकी दवा वह सब पाप है। अरे..! पैसा आया ऐसा मेरा भाव भी पाप है। मैं कमाया ऐसी मान्यता भी पाप है और मैंने पर को पैसे दिये तो पैसा मेरा था तो मैंने दिया। मेरा है ऐसी मान्यता भी पाप है। पैसा तो जड़ है, तेरा कहाँ से आया ? आहा..हा..! जगत की चीज बहुत कठिन, बापू !

मुमुक्षु :- ये तो ऐसा लगता है कि, हम चौबीस घण्टे पाप ही करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- पाप ही करते हैं, उसमें क्या ? अभी तक क्या ? पैसा कमाकर पाप किया। फिर लड़के को पैसे दिये पढ़ाई करने को 'अमेरिका' भेजा। ३५ हजार खर्च करके। उनके पुत्र को पढ़ाया। अभी तो आठ हजार का पगार है, 'मुम्बई' में एक महीने का आठ हजार का (पगार है)। वकालत में पाप किये। सलाह लेने को आते थे तो सबसे रुपया लेते थे। आहा..हा..!

प्रश्न :- वह भी पाप था ?

उत्तर :- एकान्त पाप। और ये सब सलाह लेते थे। क्या कहते हैं ? 'गांधीजी' के लाइन के। सलाह लेने आते थे, वह भी पाप।

मुमुक्षु :- उसमें तो लोगों का भला होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल में भला होता नहीं। जेल में गये थे। एक महीना जेल में गये थे। 'गांधीजी' की लाइन में सलाह देते थे तो सरकार ने पकड़ा। आहा..हा..! देश की सेवा करने की सलाह दे वह भी पाप (है)।

मुमुक्षु :- मोक्ष की अपेक्षा से पाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- पाप ही है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

मुमुक्षु :- लौकिक अपेक्षा से अच्छा है, ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- लौकिक अपेक्षा से पाप है। लोग तो पागल है तो पागल तो अच्छा-अच्छा कहे। पागल अच्छा कहे उस पागल की कीमत क्या ? पागल का... क्या कहते हैं ? रिपोर्ट ? सर्टिफिकेट। पागल के पास सर्टिफिकेट लेता है, बहुत अच्छा है, उसका अर्थ क्या ? दुनिया तो पागल है।

मुमुक्षु :- धंधा के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री :- धंधे के लिये करता है वह पाप। आहा..हा..! पैसा कमाने के लिये राग करता है

वह पाप और पैसा देने में पैसा मेरा है, ऐसा मानकर देना वह पाप (है)। और पैसा देने में राग मंद किया हो तो मुझे लाभ हुआ वह भी पाप।

ये तो क्लास है, आहा..हा..! मोक्ष की कॉलेज है। मोक्ष होने की कॉलेज है। आहा..हा..! आज तो दो बोल ही चले। आया ना ?

'ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही,...' पर्याय में एकाग्रता से नहीं। परद्रव्य की लेनदेन पाप है। अपने त्रिकाली ध्रुवतत्त्व में एकाग्रता से ही निर्मल दशा प्रगट होती है उसका नाम धर्म, वीतरागता (है)। आनन्द, शांति, संतोष, स्वच्छता, प्रभुता ऐसी निर्मल दशा होती है। और 'विभाव का अभाव होता है।' पूर्व में जो विकार था उसका अभाव होता है। और भाव के आश्रय में निर्मल भाव की पर्याय उत्पन्न होती है त्रिकाली भाव के आश्रय से निर्मल भाव की उत्पत्ति होती है और मलिन भाव का नाश होता है। यह वस्तु का स्वरूप है, बापू ! उसे थोड़ा समझना पड़ेगा। (विशेष कहेंगे...)

### (श्रीमद् राजचन्द्र पत्रांक)

क्योंकि हमारे अनुभवज्ञान का फल वीतरागता है, और वीतराग का कहा हुआ श्रुतज्ञान भी उसी परिणाम का कारण लगता है; इसलिये हम उनके वास्तविक और सच्चे अनुयायी हैं।

वन और घर ये दोनों किसी प्रकार से हमें समान है; तथापि पूर्ण वीतरागभाव के लिये वन में रहना अधिक रुचिकर लगता है; सुख की इच्छा नहीं है परन्तु वीतरागता की इच्छा है।

जगत के कल्याण के लिये पुरुषार्थ करने के बारे में लिखा तो वह पुरुषार्थ करने की इच्छा किसी प्रकार से रहती भी है, तथापि उदय के अनुसार चलना यह आत्मा की सहजदशा हुई है, और वैसा उदयकाल अभी समीप में दिखायी नहीं देता; और उसकी उदीरणा की जाये ऐसी दशा हमारी नहीं है।

'भीख माँगकर गुजरान चलायेंगे परन्तु खेद नहीं करेंगे; ज्ञान के अनन्त आनन्द के आगे वह दुःख तृण मात्र है' इस भावार्थ का जो वचन लिखा है उस वचन को हमारा नमस्कार हो ! ऐसा वचन सच्ची योग्यता के बिना निकलना संभव नहीं है।

'जीव पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहीं है, और पुद्गल का आधार नहीं है, उसके रंगवाला नहीं है; अपनी स्वरूपसत्ता के सिवाय जो अन्य है उसका स्वामी नहीं है, क्योंकि पर का ऐश्वर्य स्वरूप में नहीं होता। वस्तुधर्म से देखते हुए वह कभी भी परसंगी भी नहीं है।' इस प्रकार सामान्य अर्थ 'जीव नवि पुग्गली' इत्यादि पदों का है।

'दुःखसुखरूप करम फल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे।

चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे।।'

(श्री वासुपूज्य स्तवन-आनन्दघनजी)



**‘श्रीमद् राजचंद्र’ ग्रन्थ पर पूज्य भाईश्री  
शशीभाई का प्रवचन, प्रवचन नं.४७  
पत्रांक-२०१, ता.१३-०५-१९९५**

‘श्रीमद् राजचन्द्र’ वचनामृत, पत्रांक-२०१ हिन्दी में लेना होगा ?

यह सोभागभाई पर (लिखा हुआ) पत्र है। समझ में आता है गुजराती ?

मुमुक्षु :- कम आती है।

पूज्य भाईश्री :- कम आती है।

पत्रका Heading है ‘सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्ति के वश है, इसका जिन्होंने हृदय में अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियों की गुप्त शिक्षा है।’ ‘सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म...’ परब्रह्म माने अपना आत्मा, वह सर्वथा निर्विकार है, त्रिकाल निर्विकार है।

मुमुक्षु :- गुजरातीमां ‘केवल’ लख्युं छे।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, हिन्दी में ‘केवल’ लिख सकते थे। केवल निर्विकार होने पर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्ति के वश है जो भी ज्ञानीपुरुष हैं, उनके वश अपना आत्मा है। परब्रह्म (स्वयं) निर्विकार है और वश होना वह तो निर्विकार पदार्थ की चेष्टा नहीं है। जो निर्विकार होते हैं उसको वश होना, वश करना वह बात तो होती नहीं। फिर भी जो पराभक्ति है, प्रेममय पराभक्ति है उनको तो सर्वथा निर्विकार आत्मा भी वश होता है।

‘द्रव्यदृष्टि प्रकाश’ में आता है कि, दृष्टि है वह द्रव्य का कब्जा ले लेती है। (तो) द्रव्य बड़ा कि दृष्टि बड़ी ? जिसके कब्जे में आ जाय वह तो छोटा हो गया न ? तो (यह) एक परिणमन और वस्तु के स्वरूप को दिखाने की पद्धति है कि परिणमन क्या चीज है ? वह दिखाने की एक पद्धति होती है।

‘इसका जिन्होंने हृदय में अनुभव किया है...’ (अर्थात्) अपने परिणमनमें, श्रद्धा-ज्ञानमें अनुभव किया है कि जो त्रिकाल निर्विकारी द्रव्य है वह भी प्रेममय पराभक्ति

के वश हो जाता है। माने उसके अनुभव में वह आ जाता है।

मुमुक्षु :- प्रेममय पराभक्ति का...

पूज्य भाईश्री :- जिसको गुण का प्रेम होता है उसको गुण का निधान मिल जावे तो कितना प्रेम होवे - रुचि होवे ? और पराभक्ति माने कितना बहुमान होवे ? कि ऐक्यभाव हो जाता है। पराभक्ति माने ऐक्यभाव हो जाता है।

पराभक्ति का अर्थ २२३ (पत्र में) लिखा है। देखो, २२३ में क्या लिखा है ? ‘परमात्मा और आत्मा का एकरूप हो जाना (!) यह पराभक्ति की आखिरी हद है।’ अन्तिम हद है और ऐसी ‘एक यही लय रहना सो पराभक्ति है।’ आत्मा माने ? आत्मामय दशा उसको आत्मा कहते हैं, अंतरात्मदशा को आत्मा कहते हैं। जो भक्तिरूप दशा है, जो प्रेममय दशा है वह आत्मा है और परब्रह्म है वह परमात्मा है। जब निर्विकारी द्रव्य भी प्रेममय पराभक्ति को वश हो जाता है तो फिर दूसरे की तो मजाल ही क्या ? जो छद्मस्थ है उसकी तो मजाल ही क्या ?

बम्बई में इस पर स्वाध्याय हुआ था। प्रश्न वह उठाया था कि, अपने आत्मा पर ऐसी पराभक्ति कब आती है ? क्या किसीको सीधी-सीधी आती है ? हम सीधी आत्मा की भक्ति करके हमारे परब्रह्म को वश कर ले क्या ? यह संभव है क्या ? ऐसा एक प्रश्न आया था। (हम) बोले कि, नहीं, ऐसा नहीं होता। पहले ऐसे प्रेममय पराभक्ति अपने सत्पुरुष - सद्गुरु के प्रति आती है। सत्पुरुष - सद्गुरु नहीं कहते हैं, उनको तो प्रभु कहते हैं। अपने प्रभु के प्रति आती है और पहले प्रभु वश होते हैं, वे प्रभु वश होते हैं, फिर यह अपना परमात्मा -

प्रभु है वह वश होता है। केसेट में वह बात आयी है ? प्रश्न वह उठा था। क्योंकि जो आगे की अवस्था है वह अपेक्षित है। आगे की अवस्था है वह अपेक्षित है।

ऐसे ज्ञानियों की यह गुप्त शिक्षा है माने कौनसी शिक्षा गुप्त शिक्षा है ? किस प्रकार की गुप्त शिक्षा है ? कि परमात्मा को वश करना हो तो प्रेममय पराभक्ति आयेगी तो वश होगा। चाहे सद्गुरु परमात्मा हो, चाहे अपना परमात्मा हो। मार्ग एक ही है, दूसरा मार्ग नहीं है। यह कहने का अभिप्राय है। यह गुप्त शिक्षा है माने यह बोध है, ऐसा बोध उसने अनुभव करके लिखा, इस बोध को अपना अनुभव करके लिखा है।

मुमुक्षु :- सोगानीजी साहबने अर्घ चढ़ाया, यह पराभक्ति की !

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यहाँ तो दिगम्बर सम्प्रदाय में कोई ज्ञानी को अर्घ चढ़ावे तो लोगों को पसीना आ जाता है। तो क्या सोगानीजी दिगम्बर नहीं थे क्या ?

मुमुक्षु :- अष्टद्रव्य से उन्होंने पूजा की, कितनी पराभक्ति !

पूज्य भाईश्री :- अभी मिले नहीं थे, आत्मधर्म देख करके, आत्मधर्म में जो फोटो आया उसपर (अर्घ) चढ़ाया। अभी विद्वानों को, पंडितों को पूछो तो कहेंगे (कि), गृहीत मिथ्यात्व हो जायेगा। क्या बोलेगा ? कि यह तो गृहीत मिथ्यात्व हो जायेगा, जबकि उनको बाद में सम्यक्त्व हुआ। ऐसी भक्ति करने से तो मिथ्यात्व मिटकरके सम्यक्त्व हुआ।

मुमुक्षु :- शास्त्र में ऐसे प्रसंग तो आते नहीं, सहज ऐसा भाव उठ जाता है।

पूज्य भाईश्री :- जो अन्दरमें से आता है, जो आत्मामें से आता है वही शास्त्र है। शास्त्र निकले कहाँसे ? शास्त्र ज्ञानियों के अन्तरमें से, आत्मामें से तो निकले हैं तो जो आत्मामें से निकला वही शास्त्र है। दूसरा शास्त्र कहाँ ढूँढ़ने को जाना है ?

हमने आग्रा में वह शास्त्रमें से दिखाया। आग्रा में वह प्रश्न किसीने उठाया कि, उनके सामने बात आती है तो 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ! 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' है न ! कौन सी गाथा है ? ३६१-३६२ गाथा थी न ? ३२४-

३२६ गाथा है। उसमें वह बात है। (वहाँ) पात्रदान का अधिकार चला है कि, ज्ञानी भी पात्र को दान देते हैं। पात्र तीन प्रकार के होते हैं और दान चार प्रकार के होते हैं। तीन प्रकार के पात्र में उत्कृष्ट पात्र मुनिराज हैं, मध्यम पात्र हैं पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक और जघन्य पात्र हैं अविरत सम्यग्दृष्टि। और दान चार प्रकार के हैं - आहारदान, अभयदान, शास्त्रदान और औषधदान। आहारदान के प्रसंग की बात वहाँ चली है कि तीनों प्रकार के पात्र को नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान दिया जाता है। नवधाभक्ति में कौनसी भक्ति बाकी रही ? नौ की नौ आ जाती हैं। अष्टद्रव्य की पूजा भी आ जाती है।

मुमुक्षु :- वहाँ एक विशेषता और है कि, अधिकार चला है पंचमगुणस्थानवर्ती का और पंचमगुणस्थानवर्ती तीन प्रकार के पात्र को दान देते हैं, जघन्य को पंचमगुणस्थानवाला भी यथायोग्य भक्ति करके आहारदान देता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, देता है न ! देता है।

मुमुक्षु :- यह एक विशेषता हुई न ! पंचमगुणस्थानवाला चौथे गुणस्थानवाले को आहारदान देता है।

पूज्य भाईश्री :- जब गुरु शिष्य का आदर करता है तो वह बात कहाँ रहती है ? और ज्ञानी मुमुक्षु का आदर नहीं करते क्या ? ज्ञानी हो वे उत्कृष्ट मुमुक्षु का आदर नहीं करते क्या ? (सोभागभाई) अज्ञानी हैं फिर भी (उनका) चरणस्पर्श लिखा है। इसमें ही पीछे आयेगा, इसमें नीचे ही आयेगा। शुरु में आता है।

'यहाँ परमानन्द है। असंगवृत्ति होने से समुदाय में रहना बहुत विकट है। जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिनके हृदय में प्रकाशित हुआ है, उन महाभाग्य ज्ञानियों की और आपकी हम पर कृपा रहें।' सोभागभाई को लिखा है, आपकी हम पर कृपा रहे।

आमां संस्कृत टीका नथी ने ? संस्कृत टीकामां छे। आमां नथी। संस्कृत टीका छे ने एमां छे। छे आमां पण छे. ३६१नो अर्थ। 'अतिथिसंविभाग नामनुं त्रीजुं शिक्षाव्रत कहे छे.' 'शिक्षाव्रतं च तृतीयं तस्य भवेत् सर्वसौख्यसिद्धिकरं दानं चतुर्विधं अपि च सर्वादानानां

सारकरं' (३६१) जे ज्ञानीश्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य त्रण प्रकारना पात्रोने अर्थ दाताना श्रद्धाआदि गुणोथी युक्त बनी पोताना हाथथी नवधाभक्ति सहित थईने दररोज दान आपे छे ते श्रावकनुं त्रीजुं अतिथिसंविभागशिक्षाव्रत छे. ए दान केवुं छे ? आहार, अभय, औषध अने शास्त्रदानना भेदथी चार प्रकारनुं छे. वळी अन्य जे लौकिक धनादिना दान करता आ दान अतिशय साररूप उत्तम छे, सर्व सिद्धि सुखनुं उपजाववावाळुं छे.

भावार्थ :- त्रण प्रकारनां पात्रोमां उत्कृष्ट तो मुनि, मध्यम अणुव्रती श्रावक तथा जघन्य अविरतसम्यग्दृष्टि छे. वळी दातारना श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा अने शक्ति ए सात गुणो छे. वळी अन्य प्रकार आ प्रमाणे पण छे। ए तो भावार्थमां पछी तेनुं ए लीधुं छे। 'वळी प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा आहारशुद्धि ए प्रमाणे नवधाभक्ति छे. ए रीते दातारना गुणोसहित नवधाभक्तिपूर्वक पात्रने रोज चार प्रकारनां दान जे आपे छे,..' देखो ! आ दातारना सात गुणो अने नवधाभक्ति संबंधी विशेष वर्णन 'रत्नकरंड श्रावकाचार श्लोक ११३ के 'रोज चार प्रकारना दान जे आपे छे तेने त्रीजुं शिक्षाव्रत होय छे.'

मुमुक्षु :- ... एने शिक्षाव्रत होय छे एटले ए पंचम गुणस्थानवर्ती थई गया ने ! तो आ प्रवृत्तिरूप क्रिया छे, खाली अभिप्रायनी वात नथी.

पूज्य भाईश्री :- रोज आपे छे ई वात छे, आपे छे ई वात छे.

मुमुक्षु :- यह द्रव्यरूप से है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, लिखा है, विस्तार किया है - नवधाभक्ति का विस्तार भी किया है। और वहाँ तो संस्कृत टीका में वह बात Original में लिखी है, वह बात संस्कृत में लिखी है।

इसमें क्या है ? धर्म का बहुमान है। धर्मों का बहुमान (है), वह धर्म का बहुमान है। हम सम्यग्दर्शन की पूजा करे, अष्टद्रव्य से करते हैं कि नहीं करते हैं ? तो सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्दृष्टि कहाँ पाया जाता है ? यह बताओ। मुनि और भगवान में सम्यग्दर्शन है इसकी

पूजा करे और अविरत सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन है इसकी पूजा नहीं करे, ऐसा हो सकता है क्या ? वह हास्यास्पद बात है।

पर्व के दिनों में - दस लक्षण पर्व में तेरस को सम्यग्दर्शन की पूजा करते हैं, चौदस को सम्यग्ज्ञान की पूजा करते हैं, (फिर) चारित्र की पूजा करते हैं, तो सम्यग्दर्शन की आठ द्रव्य से पूजा करे और सम्यग्दृष्टि की नहीं करे ! तो सम्यग्दर्शन तो इसकी पर्याय है और सम्यग्दृष्टि तो उस पर्याय का धनी है, तो धनी बड़ा कि इसकी पर्याय बड़ी ? 'न धर्मोः धार्मिकेय बिना' वैसी बात है।

आत्मा और परमात्मा का ऐक्य हो जाना, पराभक्ति में क्या है ? दोपना नहीं रहना। कुछ अन्तर नहीं रहना। अपनेरूप, सर्वस्वरूप अनुभव करना और एक लयसे अनुभव करना, कभी हो और कभी नहीं हो ऐसी बात नहीं। कभी विरुद्ध हो और कभी अविरुद्ध हो ऐसी भी बात नहीं। उसको पराभक्ति कहने में आयी है। वह प्रश्न वहाँ चला था। इसलिये वहाँ वह बात खोली थी कि, बीच में एक ऐसी स्थिति आती है, आये बिना रहती नहीं, बाद में यह स्थिति आती है। उस स्थिति(में) नहीं आये और यह स्थिति आये ऐसा भी बनता नहीं है।

अब पत्र शुरू होता है कि, 'यहाँ परमानन्द है।' यहाँ परमानन्द है, हमको परम आनन्द है। 'असंगवृत्ति होने से समुदाय में रहना बहुत विकट है।' हमारी असंगवृत्ति हो गई है इसलिये लोगों के बीच में रहना हमको सुहाता नहीं है, बिलकुल सुहाता नहीं है। किसी से बोलना, बात करना, कुछ व्यवहार करना हमको सुहाता नहीं है।

मुमुक्षु :- माह महिनानो पत्र छे.

पूज्य भाईश्री :- हाँ, सम्यग्दर्शन(को) हुए चार महीने हुए हैं, चार महीने की बात है। कितनी असंगवृत्ति हो गयी है ! किसी समुदाय के साथ हमको बिलकुल सुहाता नहीं है।

'जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिनके हृदय

में प्रकाशित हुआ है,...' ज्ञानियों के विशेषण के लिये एक पूरा वाक्य लिखा है 'उन महाभाग्य ज्ञानियों की और आपकी हमपर कृपा रहे।' ज्ञानी की हमारे पर कृपा हो ऐसी सादी बात नहीं लिखा कि ज्ञानी की भी हमारे पर कृपा हो। ज्ञानी कैसे होते हैं ? कि जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकार से कहा नहीं जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिनके हृदय में प्रकाशित हुआ है। आनन्दमय परिणमन जिसका हुआ है, ऐसे महाज्ञानियों की हमारे पर कृपा हो, कृपा रहे और आपकी भी हमारे पर कृपा रहे। ठीक !

शिष्य तो गुरु को कहे कि, हे गुरु ! आपकी हमारे पर कृपा रहे, लेकिन यहाँ गुरु शिष्य को कहते हैं। कैसी बात होगी ? शिष्य भी कैसा होगा ? जिस गुरु को अपने शिष्य पर इतना बहुमान आये वह शिष्य कैसा होगा ? ऐसा क्यों ? एक बहुत मार्मिक बात इधर है कि, यह ज्ञानी गुरु अपने शिष्य के लिये ऐसा क्यों कहते हैं ? कृपा रहे, ऐसी बात कैसे करते हैं ? कि, वास्तव में उनको भी आत्मलाभ होता है। सत्संग में, ऐसे पात्र सत्संग में उनको भी आत्मलाभ होता है। उनका हृदय आत्मा अन्दर से उजागर होता है, आविर्भाव को प्राप्त होता है। शिष्य के साथ सत्संग करने से, ऐसा पात्र शिष्य होते हैं कि, इनके साथ सत्संग करने से अपने को अपना आत्मभाव आविर्भाव होने लगता है। तो जैसे गुरु से होता है वैसे शिष्य से होने लगा तो गुरु भी शर्म रखेंगे नहीं कि यह शिष्य है, मुझे नहीं बोलना चाहिये - ऐसा नहीं कहेंगे। मान-अपमान जैसा होता ही नहीं, मोक्षमार्ग में मान-अपमान जैसा कुछ होता ही नहीं है। (कहते हैं) आपकी हमारे पर कृपा रहे।

'हम तो आपकी चरणरज हैं;...' क्या लिखा है ? शिष्य को लिखते हैं, हम तो आपकी चरणरज हैं। यह पत्र तो ज्ञानदशा होने के बाद लिखते हैं और सोभागभाई को अभी ज्ञानदशा हुई नहीं है। आगे, कभी-कभी ठपका भी दिया है, वह भी अधिकार है और इतनी स्तुति भी की है तो क्या है कि, दोनोंके बीच में कोई अन्तर नहीं है। कुछ भी कह सकते हैं। यह प्रेम से भगवान को

तू कहते हैं कि नहीं कहते हैं ? जब भगवान की भक्ति करते हैं तो बहुमान तो कितना है ? साक्षात् परमात्मा है उनका बहुमान होने में कोई कसर होने का तो सवाल नहीं है। लेकिन भक्ति करेंगे तो क्या कहेंगे ? तू ऐसा है और तू ऐसा है। कहेगा कि नहीं कहेगा ? तो आपमें से तू कहाँ से हो गया ? ऐसे प्रेमभक्ति आती है।

'हम तो आपकी चरणरज हैं; और त्रिकाल इसी प्रेम की निरंजनदेवसे याचना है।' कि हमारा प्रेम ऐसा बना रहे, आपके साथ जैसा प्रेम है, ऐसा ही प्रेम बना रहे, ऐसी हमारी याचना है। हमको और कुछ चाहिये नहीं।

प्रश्न :- निरंजनदेव मतलब ?

समाधान :- अपना आत्मा, अपने आत्मा के प्रति याचना करते हैं कि तुम ऐसा ही परिणमन किया करो और कुछ नहीं चाहिये।

मुमुक्षु :- रागनो मलावो करवानो ने !

पूज्य भाईश्री :- राग दूसरी वस्तु है, प्रेम दूसरी वस्तु है। दोनों एक बात नहीं हैं। राग अलग चीज है। राग होता है वह कभी हट जाता है तो राग का स्थान कौन लेता है ? द्वेष ले लेता है। जबकि निर्मल प्रेम होता है वहाँ ऐसा होता नहीं है। वह कभी हटता नहीं, मिटता नहीं। दिनदुगना और रात चौगुना हो जायेगा, ऐसा बनता है। दोनों का आधार अलग-अलग है। राग का आधार पुद्गल है और प्रेम का आधार चैतन्य है।

मुमुक्षु :- देवलालीमें आपने लिया था, आत्मा प्रेम की मूर्ति है।

पूज्य भाईश्री :- अनन्त प्रेम की मूर्ति है। (बम्बई में) स्वध्याय चला वहाँ वह बात ली थी कि, जैसे आत्मा ज्ञान और आनन्द की मूर्ति है ऐसे आत्मा अनन्त प्रेम की मूर्ति है। आत्मिक प्रेम जब उमड़ता है तो वह बात कोई अलग हो जाती है। अन्यमत में तो ऐसा कहते हैं कि, भगवान को भक्त के वश रहना पड़ता है, क्या है ? भगवान को (भक्त के वश रहना पड़ता है)। तो यहाँ भी ऐसी बात ली कि, यह जो सर्वथा निर्विकाल परब्रह्म है न ? वह भी पराभक्ति के वश होते हैं, वह



भी इसके वश में आ जाते हैं। ऐसी उसमें ताकत है ! तो इसका मतलब क्या हुआ ? कि, पर्याय की महिमा कितनी है वह दिखाने की बात है कि, फिर वह परब्रह्म अलग रह सकता नहीं है। वह परब्रह्म अलग नहीं रह सकता। अनन्यभाव हो जायेगा, अन्यभाव रहेगा नहीं।

मुमुक्षु :- आत्मा को ज्ञान की प्रधानता रहती है, और आपने एक बार कहा था कि, ज्ञान से विभूषित आत्मा है, अनन्तज्ञान की मूर्ति है। वैसे ही प्रेम की मूर्ति है।

पूज्य भाईश्री :- सर्वज्ञस्वभावी है, इसलिये सर्व जानने की उसकी वृत्ति रहेगी, जैसे सुखस्वभाव है तो सुख की वृत्ति रहेगी, आनन्दस्वभाव है, शांतस्वभाव है तो सबकी वृत्ति रहेगी, ऐसे प्रेमस्वभाव है।

मुमुक्षु :- तो प्रेम की वृत्ति रहेगी।

पूज्य भाईश्री :- रहेगी ही रहेगी, कहीं न कहीं तो करेगा। अन्य द्रव्य से करेगा तो राग हो जायेगा। पुद्गल से करेगा तो राग हो जायेगा और चैतन्य से करे तो प्रेम हो जायेगा। अपने प्रभु से करता है वह चैतन्यसे करता है। परमात्मा, संत-सत्पुरुष और आत्मा तीनों में कोई भेद नहीं है। एक जगह लिखा है, तीनों में कोई अन्तर नहीं है। यह स्व है और वह पर है, यहाँ वह बात नहीं है।

प्रश्न :- मुमुक्षु में ऐसी पात्रता, इसकी वजह क्या ?

समाधान :- योग्यता, सर्वोत्कृष्ट योग्यता है। मुमुक्षुता में यह सर्वोत्कृष्ट योग्यता है।

प्रश्न :- किस वजह से आती है ?

समाधान :- किस वजह से क्या ? गुण का प्रेम है, उसका स्वभाव है। वजह क्या है ? वजह है इसका स्वभाव, वजह है अपना स्वभाव। अपने स्वभाव की वजह से आती है। दूसरा कोई कारण नहीं है। स्वभावमें से निकली हुई वह स्वभाविक पर्याय है, वह स्वभावपर्याय है, विभावपर्याय नहीं है।

मुमुक्षु :- प्रेम की चाहत प्रेमस्वभाव को व्यक्त करती है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, स्वभाव को व्यक्त करती है।

‘केवल निर्विकार छातां परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिने

वश छे, ए हृदयमां जेणे अनुभव कर्यो छे एवा ज्ञानीओनी गुप्त शिक्षा छे।’

‘अत्र परमानन्द छे. असंगवृत्ति होवाथी समुदायमां रहेवुं बहु विकट छे. जेनो कोई पण प्रकारे यथार्थ आनन्द कही शकातो नथी। एवुं जे सत्स्वरूप ते जेना हृदयमां प्रकाश्युं छे एवा महाभाग्य ज्ञानीओनी अने आपनी अमारा उपर कृपा वर्तो।’

इसमें तो विरोध खड़ा हुआ था। शुरुआत में उन लोगोंने कुछ फेरफार किया है। Original नहीं छपा। उसके बाद कृपालुदेव के मुमुक्षुओ में कुछ बात हुई की यह अपना अधिकार नहीं है। हमें पसंद आये न आये हम निकाल दे (यह ठीक नहीं)। पोपटलालभाई ने विरोध उठाया था और वे बहु विचारक थे। इसमें क्या है कि, यह काम मनसुखभाई, उनके कृपालुदेव के छोटेभाईने किया था। अंबालालभाई साथ में थे या नहीं ? दूसरे मनसुखभाई कीरतचंद। प्रकाशक मनसुखलाल रवजीभाई महेता, वह जो पहली आवृत्ति है न ! ‘संशोधक’ शब्द का उपयोग किया है, संशोधक मनसुखलाल रवजीभाई महेता। इसमें फेरफार है। यह आखिर में बड़े ग्रन्थ में Original लिया है, word to word किसी भी प्रकार के परिवर्तन के बगैर। ये पोपटलाल मोहकचंदभाईने कहा कि यह हम नहीं कर सकते। ज्ञानीपुरुष की बात में हमें कोई फेरफार नहीं करना चाहिए और हम नहीं कर सकते। वे विचारक थे। कुछ लोग तो कहते थे कि बाद में उनको प्राप्ति हो गई थी। विचारक तो बहुत थे यह बात तो उनकी डायरी ईडर में देखी थी। ईडर में उनकी हस्तलिखित डायरी देखी थी। सोलहसो वचन थे। कितने ? सोलहसो वचन थे। कई बातें अच्छी लिखी थी। कुछएक बातें तो अंतर विचार में से आई हो ऐसा प्रतीत होता है। बहुत अच्छी योग्यता होगी, बहुत सूक्ष्म विचारक होंगे यह बात तो जरूर है।

देखो ! उनको भी कैसा हुआ होगा ? १९४४ में वे कृपालुदेव के प्रथम परिचय में आये और उपर से गया। पहचान न पाये, कीमत न आई। दस साल निकल गये, १९५४ में फिर से परिचय में आये उसके



बाद कीमत आयी, बाद में फिर एकदम पीछे लग गए और लगे रहे और बहुत फायदा हुआ। उनसे जुड़े रहे और फायदा भी हुआ। उसके बाद उन्होंने १९६८ में वडवा में आश्रम किया। दस साल के बाद वडवा में पहला आश्रम उन्होंने किया। यह वडवा आश्रम के आध्यस्थापक पोपटलालभाई है।

मुमुक्षु :- त्यां श्वेताम्बर मंदिर छे.

पूज्य भाईश्री :- हा, श्वेताम्बर-दिगम्बर का भेद तो उन लोगों को आज भी ख्याल में नहीं आया, बहुभाग लोगों को ख्याल में नहीं आता। कुछलोग जो गुरुदेव के साहित्य को पढ़ने के बाद गुरुदेव की ओर झुके उनमें परिवर्तन आ गया। जैसे कि यह कोबा का आश्रम है, वहाँ दिगम्बर प्रतिमा है। उनमें से कुछएक में परिवर्तन हुआ है। कोबा तरफ जो मुड़े उन सब को ख्याल आ गया की दिगम्बर सत्य है। दिगम्बर साहित्य भी सब लोग पढ़ने लगे। मान्यता सब की स्वतंत्र है। आपने तो प्रत्यक्ष गुरुदेव ने ४५ साल तक प्रवचन दिये फिर भी सबकी मान्यता भिन्न-भिन्न है कि नहीं ? अपने यहाँ भिन्न-भिन्न ख्याल और भिन्न-भिन्न मान्यता हो गई है कि नहीं ?

**‘आज के प्रभात से निरंजनदेव का कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है;...’** प्रभात एटले वहेलुं परोदियुं, सुबह सुप्रभात से ही निरंजनदेव हमारा आत्मा, उसका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। यानी उसकी कृपा हुई, निर्विकल्पदशा बहुत अच्छी आयी। निर्विकल्प शुद्धोपयोग की दशा बहुत अच्छी आयी। **‘आज बहुत दिनों से इच्छित पराभक्ति किसी अनुपम रूप में उदित हुई है।’** आत्मा और परमात्मा का ऐक्य हो जाना, निर्विकल्प शुद्धोपयोग हो जाना वही पराभक्ति है। बहुत दिनों से इच्छा रखते थे ऐसी पराभक्ति किसी अनुपम रूप में उदित हुई है।

पराभक्ति दिखाने के लिये ‘श्रीमद् भागवत्’ का एक दृष्टान्त दिया है। ‘श्रीमद् भागवत्’ में ऐसी एक कथा है। ‘श्रीमद् भागवत्’ में ऐसी एक कथा है कि, **‘गोपियाँ भगवान वासुदेव (कृष्णचन्द्र)को दही की मटकी में रखकर बेचने निकली थी...’** भगवान को बेचने निकली

थी ! दही की मटकी में तो दही था लेकिन वे भूल गई, वे भगवान को बेचने निकल गई। यह दही की मटकी है **‘वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है।’** वह प्रसंग हमको आज बहुत याद आ रहा है।

इसमें क्या हुआ है कि, लय लगी है, हमको हमारे परिणाममें हमारे परमात्मा की लय लगी है। दूसरा कुछ हमको दिखता नहीं है। वह अन्यमत में आता है कि, परमात्मा सर्वव्यापक है। ‘घास, चास नहि पास पण विश्वपतिनो वास’ कविता आवती हती ने ? वह बात दूसरे प्रकारसे है। जब अपने परमात्मा के प्रति उतना प्रेम आता है तो हरजगह वही दिखता है। जहाँ देखो वहाँ वही दिखता है, दूसरा कुछ दिखता नहीं है। तो जैसे हरजगह व्याप्यव्यापक हो गया, वास्तव में व्यापता नहीं, वह तो अपनी दृष्टि ऐसी है। वही Visualise होता रहता है।

मुमुक्षु :- कण-कण में भगवान है, ऐसी जो मान्यता है वह इसी न्याय से है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उसी न्याय से है। वह भी पद आता है देखो, ‘हुं तो हालुं चालुं ने प्रभु सांभरे रे, मने खाता, पीता, बोलता, उंघता प्रभु-हरि सांभरे रे’ ए ज दशा थई जाय छे.

मुमुक्षु :- राजकोटवाला मुमुक्षुभाई कहेता हता के, श्रीमद् मारी साथे ज चाले छे.

पूज्य भाईश्री :- हाँ, वह आये थे न ! ऐसी बात है। **‘गोपियाँ भगवान वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को दहीकी मटकी में रखकर बेचने निकली थी ऐसी श्रीमद् भागवत् में एक कथा है; वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत बहता है...’** क्या ? पराभक्ति में क्या आता है ? अमृत बहता है **‘वहाँ सहस्रदल कमल है, वह दही की मटकी है; और आदिपुरुष उसमें बिराजमान है वह भगवान वासुदेव हैं।’** ऐसी भागवत् में वह सब बातें आती हैं।

**‘उसकी प्राप्ति सत्पुरुष की चित्तवृत्तिरूप गोपी को होने पर...’** अब क्या है ? ऐसे अपने परमात्मा की प्राप्ति, जो ज्ञानीपुरुष हैं उनकी चित्तवृत्तिरूप गोपी है, उसकी चित्तवृत्ति है वह गोपी है। वह **‘गोपी को होने**

पर वह उल्लास में आकर...' वह क्या है ? ज्ञानी उल्लास में आ जाते हैं और 'दूसरे मुमुक्षु आत्मा के प्रति ऐसा कहती है - 'कोई माधव लो, हारे कोई माधव लो।' गुजरातीमां एने मही कहे छे, गुजरातीमां एने दहीं पण कहे छे अने साहित्यनी भाषामां एने मही कहे छे. महीकी मटकी, मही माने दहीं। तो मही(में) 'म' शब्द आगे है। तो वहाँ माधव में 'म' शब्द आगे है तो मही का शब्द बदल करके माधव हो गया। 'कोई माधव ल्यो, कोई माधव ल्यो...' ठीक !

मुमुक्षु :- मुमुक्षु को ज्ञानी ऐसे प्रेरणा करते हैं, देते हैं।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, यह भक्ति का पत्र सोभागभाई को लिखा है। सोभागभाई को ऐसी अनन्य भक्ति थी न ! इसलिये (लिखा है)। सोभागभाई आगे पूछते हैं कि, आपने वह भागवत्वाली बात कहाँ से कही ? वह भागवत्वाली बात आपसे सुनकर हमको बहुत हर्ष आया। क्योंकि उसके अन्तर परिणाम और वह सब बात मेल खाते थे तो उनको परम हर्ष आया कि यह बात आपने कहाँ से कही ? क्योंकि वह भी हमारे अनुभव का विषय है, आज जो तुम्हारे अनुभव का विषय है वही हमारे अनुभव का विषय है। हमारे आत्मज्ञान से, हमारे अनुभव से वह बात हमने कही है। हमको भी ऐसा अनुभव हुआ था। इसलिये हमने ऐसी बात कही है।

मुमुक्षु :- १५२ पत्र में...

पूज्य भाईश्री :- 'आज आपका कृपा पत्र मिला। साथ में पद मिला। सर्वार्थसिद्धि की ही बात है।' कोने लखेलो पत्र छे ? सोभागभाईने ! 'जैन में ऐसा कहा है कि सर्वार्थसिद्धि महाविमान की ध्वजा से बारह योजन दूर मुक्तिशिला है। कबीर भी ध्वजा से आनन्दविभोर हो गये हैं। उस पद को पढ़कर परमानन्द हुआ। प्रभात में जल्दी उठा,...' आसो सुदी एकादशी छे। 'प्रभात में जल्दी उठा, तबसे कोई अपूर्व आनन्द रहा ही करता था। इतने में पद मिला;...' आपका पदवाला पत्र मिला। 'और मूलपद का अतिशय स्मरण हो आया,...' हमारे आत्मपद का अतिशय स्मरण हो आया।

'एकतान हो गया।' इसमें एकतान हो गये। 'एकाकार वृत्ति का वर्णन शब्द से कैसे किया जा सकता है। दिन के बारह बजे तक रहा।' सुबह से लेकर के (बारह बजे तक रहा)। 'अपूर्व आनन्द तो वैसा का वैसा ही है। परन्तु दूसरी वार्ता करने में उसके बाद का कालक्षेप किया। 'केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के। ऐसा एक पद बनाया। हृदय बहुत आनन्द में है।' आसो महीने में उनको सम्यग्दर्शन हुआ है। चाहे यह पत्र से हो या बाद में कुछ दिन के (बाद) हो। मूलपद का स्मरण होने में सोभागभाई निमित्त पड़े हैं इसलिये लिखते हैं कि आपकी हमारे पर कृपा रहे। जैसी कृपा हुई वैसी कृपा रहे। माने आपका निमित्त हमको बना रहे, हम तो आपकी चरणरज हैं। तो जिसके निमित्त से कृपालुदेव जैसे आत्मा को भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से लाभ हुआ हो, वह निमित्त भी कितना पात्र होगा ? वह निमित्त में भी कितनी योग्यता होगी ? यह विचार करने लायक बात है।

प्रश्न :- कृपालुदेवने सम्यग्दर्शन कई तारीखे थयुं ?

समाधान :- मळतुं नथी कंई। Exact कंई मळतुं नथी पण वातो तो घणी, जुदी-जुदी रीते अनेक वातो बहार आवी छे. महिमा वधारवा माटे पण कोईने कोई वात आवती रहे। Authentic कोई वात नथी होती।

मुमुक्षु :- कृपालुदेवने ख्यालमां हतुं के सोभागभाई ने ए बेय साथे हता।

पूज्य भाईश्री :- एमने तो जातिस्मरण हतुं एटले होई शके छे पण आम पत्रमां क्यांय सीधो उल्लेख नथी। एमना पोताना हस्ताक्षरमां नथी मळतुं.

मुमुक्षु :- १५२ वा पत्र सोभागभाई को लिखा है। मतलब सोभागभाई और इनका परिचय का प्रारंभिक दौर है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, पहला पत्र १३१ है। यह १५२ है, सबसे पहला पत्र १३१ है। प्रथम भादवा में प्रथम परिचय हुआ है और यहाँ से दोनों के बीच में हमेशा सत्संग में रहने के लिये भाव व्यक्त किये हैं और शंकराचार्य का श्लोक भी वहीं उद्धरण किया है। १३२ है, १३२ पहला पत्र है। १३१ नहीं, हिन्दी में है।

'क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका' यह शंकराचार्य का श्लोक है। एक क्षण भी सज्जन की संगति मिल जाय तो भवरूपी समुद्र तरने के लिये वह नौका बनती है। एक क्षण का सत्संग संसार को तार देता है। वह शंकराचार्यने सत्संग की महिमा की है। उन लोगों में भी सत्संग की बहुत महिमा है।

अर्थ किया है। 'सत्पुरुष का क्षणभर का भी समागम संसाररूपी समुद्र तरने के लिये नौकारूप होता है। वह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है; और यह यथार्थ ही लगता है।' उसमें कोई अयथार्थता नहीं है। क्योंकि यह बात तीर्थकर की ध्वनि में आयी है, बाद में शंकराचार्यने लिया। अन्यमत पैदा हुआ न ? तो उन लोगों ने कोई न कोई बात तो तीर्थकर की उठायी है, फिर विकृति में Adulteration किया वह अलग बात है। जो मूल बात है वह तो तीर्थकर की है। इसलिये ज्ञानी की नजर वहाँ पहुँचती है कि यह तो मूल बात है, तीर्थकर की है। 'चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वना, पण ज्ञानीने ते ज्ञान भास्या...' उसमें से उसने तीर्थकर की वाणी पकड़ी, 'ए ज ठेकाणे ठरो।' उस मूल बात को पकड़ करके स्थिर हो जाओ। 'जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो।' ज्ञानी अज्ञानी का शास्त्र पढ़े उसमें मूल बात तीर्थकर की है वह अलग निकाल दे और दूसरी बात को भी वे अलग निकाल सकते हैं। यह बात तीर्थकर की नहीं है (या) यह बात तीर्थकर की है।

'आपने मेरे समागम से हुआ आनन्द और वियोग से हुआ अनानन्द...' आनन्द का विपरीत। 'समागम से हुआ आनन्द...' एक दफे मिले तो वियोग से अनानन्द हो गया। प्रेम तो वहाँ से शुरू हो गया था कि वियोग बरदाश्त कर सकते नहीं थे। 'वियोग से हुआ अनानन्द प्रदर्शित किया है, वैसा ही आपके समागम के लिये मुझे भी हुआ है।' और प्रेम कभी एक तरफा होता नहीं है। One way traffic नहीं है वह अरसपरस होता है। तो जैसा आपको हुआ वैसा मुझे भी हुआ है। आपके वियोग से मुझे भी अनानन्द हुआ है।

'अन्तःकरण में निरंतर ऐसा ही आया करता

है कि परमार्थरूप होना, और अनेक को परमार्थ सिद्ध करने में सहायक होना यही कर्तव्य है, तथापि कुछ वैसा योग अभी वियोग में है। भविष्यज्ञान की जिस में आवश्यकता है, उस बातपर अभी ध्यान नहीं रहा।' वह भविष्यज्ञानवाली बात पर हम उपयोग देते नहीं हैं। बस ! उतना पोस्टकार्ड जितना संक्षेप पत्र है। प्रथम भादों वदी १३, पहला भादरवा वदमां परिचयमां आव्या छे। पछी बीजो भादरवो अने आसो सुद ११नो पहेलो पत्र छे। दोढेक महिनामां सम्यग्दर्शन थयुं होय एवुं लागे छे। सोभागभाई के समागम के बाद करीब डेढ़-दो मास में सम्यग्दर्शन हो गया है। इसलिये उनका उपकार अनेक जगह गाया है। उतना ही नहीं, हम आपको इसका बदला कैसे दें ? कि इसी भव में आपको ज्ञानप्राप्ति करायेंगे। वह Promise दिया है और कराया भी है।

(यहाँ कहते हैं), 'अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुष की प्राप्ति हुई है...' सत्पुरुष की वृत्ति क्या कहती है ? कि, हमको स्वरूप का अनुभव हुआ है, परमब्रह्म का अनुभव हुआ है। 'और यह एक ही प्राप्त करने योग्य है, अन्य कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, इसलिये आप प्राप्त कीजिये।' मुमुक्षु को कहते हैं कि आप भी प्राप्त करें।

'उल्लास में वारंवार कहती है कि आप उस पुराणपुरुष को प्राप्त करें, और यदि उस प्राप्ति को अचल प्रेम से चाहेंगे तो हम वह आदिपुरुष आपको दे देंगी।' और यहाँ बजार मतलब क्या है ? मुमुक्षुवृन्द। मुमुक्षुवृन्द में सत्पुरुष की वृत्ति ऐसा बोलती है कि हमको परमब्रह्म की प्राप्ति हो गई। 'और यदि उस प्राप्ति को अचल प्रेम से चाहेंगे तो...' कैसे प्रेम से ? जो प्रेम कभी भी किसी प्रकार की कठिनाई आने से, प्रतिकूलता आने से विचलित होता नहीं उसको अचलित प्रेम कहते हैं। प्रतिकूलतासे वह विचलित होनेवाला नहीं है। 'अचल प्रेम से चाहेंगे तो हम वह आदिपुरुष आपको दे देंगी।' आपका अचल प्रेम देखर आपको भी अनुभव करा देंगे तो ज्ञानीपुरुष मुमुक्षु को ऐसा कहते हैं कि, आपको अपने गुणनिधान की अचल प्रेम से प्राप्ति करनी है ?

हम तुमको करा देंगे, जाओ !

मुमुक्षु :- करा देंगे नहीं, दे देंगे।

पूज्य भाईश्री :- दे देंगे। हम तुमको आदिपुरुष (दे देंगे)। हमारे दही की मटकी में माधव है, तुमको दे देंगे। बेचने में-बीकने में तो पैसा लेकर दही बेचा जाता है, ये तो मुमुक्षु से कुछ लिये बिना भगवान को दे देते हैं, लो उठाओ !

**'हम इसे मटकी में रखकर बेचने निकली हैं, और ग्राहक देखकर दे देती हैं,...**' ग्राहक चाहिये, सच्चा ग्राहक चाहिये। इसलिये कोई ग्राहक बने, पुकार इसलिये करते हैं कि, कोई ग्राहक बने। **'ग्राहक बनो, अचल प्रेम से कोई ग्राहक बनो, तो वासुदेव की प्राप्ति करा देंगी।'** देखो !

मुमुक्षु :- आत्माना ग्राहक त्वराथी थाओ।

पूज्य भाईश्री :- स्वद्रव्य के ग्राहक त्वरासे हो और परद्रव्य की ग्राहकता त्वरासे तजो। यह 'त्वरा' शब्द आता है पूर्णता के लक्षसे। बहुत Force आता है न ! अभी-अभी पूर्ण होना है, अभी-अभी पूर्ण होना है, इतना Force आता है। वह 'त्वरा' शब्द यहाँ से निकला है।

गुरुदेव को यह बहुत जच गया। तो गुरुदेव ने अपनी भावना की जो गाथाएं थी उस पर जो प्रवचन किये उसमें उन दस वचनपर भी प्रवचन किये और बोले कि बारह अंग का सार है। क्योंकि पूर्णता का लक्ष्य वहाँ से शुरू हुआ न ! वहाँ से शुरूआत होती है, बराबर, यथार्थ शुरूआत होती है, कैसी ? पूर्णता के लक्षसे जो आगे बढ़ा, वह गिरेगा नहीं। वह पूर्णता लेकर रहेगा। पूर्ण होकर रहेगा, ऐसी बात है, ऐसा Force आता है।

**'मटकी में रखकर बेचने निकलने का अर्थ यह है कि सहस्रदल कमल में हमें वासुदेव भगवान मिले हैं, मक्खनका तो नाम मात्र है;...**' हमको तो वासुदेव भगवान मिले हैं। **'यदि सारी सृष्टि को मथ कर मक्खन निकालें तो मात्र एक अमृतरूप वासुदेव भगवान ही मक्खन निकलता है।'** पूरी सृष्टिमें से कोई मक्खन निकालें तो क्या है ? जो वासुदेव हैं वही अमृत हैं, दूसरा कोई अमृत नहीं है।

२०६ पत्र में आखरी पंक्ति है, **'भागवतवाली बात आत्मज्ञान से जानी हुई है।'** महात्मा कबीरजी की दूसरी पुस्तकें मिल सकें तो भेजने की कृपा की जियेगा। पारमार्थिक विषय में अभी मौन रहने का कारण परमात्मा की इच्छा है। जब तक असंग नहीं होंगे और उसके बाद उसकी इच्छा नहीं होगी तब तक प्रगटरूप से मार्ग नहीं कहेंगे, और ऐसा सभी महात्माओंका रिवाज है। हम तो दीन मात्र है। **भागवतवाली बात आत्मज्ञान से जानी हुई है।** यह हमारे आत्मज्ञान - अनुभव का विषय है।

भागवतशास्त्र है। श्रीकृष्ण हैं वह कोई अन्यमति नहीं है। श्री कृष्ण जैन थे, कौन थे ? उनको सोलह हजार एकसो आठ रानियाँ थी। तीन खंड के वासुदेव थे न ! तो एक रानी का एक सोने का महल, सोने की द्वारिका थी न ! एक रानी का एक सोने का महल और एक रानी को एक सोने का जिनमंदिर। तो सोलह हजार एकसो आठ रानियाँ थी और सोलह हजार एकसो आठ महल थे और सोलह हजार एकसो आठ जिनमंदिर थे। अपने Complexमें ! वह ऐसा Complex बना हुआ था। आजकल Complex बनाते हैं न ! नहाने का - स्नान करने का होज बनाते हैं और खेलने के लिये कोर्ट बनाते हैं, तो धर्मात्मा हैं वे जिनमंदिर बनाते हैं। जिसको जैसा राग ! धर्मात्मा होते हैं वे जिनमंदिर बनायेंगे। वे जैन थे। वह अपने यहाँ हरिवंशपुराण है, हरिवंशपुराण है। लेकिन उनलोगों ने कोई विशेषरूप से यह बात लिखी है, तो वह मूल बात की उपमा है। वह भी अध्यात्म भागवत में ऐसा ही उतारते हैं, अपने आत्मा पर, परब्रह्म पर ही उतारते हैं।

अत्यारे जे भागवत छे ए अन्यमतनुं शास्त्र छे पण एनी अंदर अमुक मूल वातो रही गई छे। मूल बात जो रह गई है, अपने को तो उससे मतलब है।

जैसे अभी जो श्रेताम्बर के शास्त्र हैं, उसमें भी यह गडबड हो गई, लेकिन उसमें 'आचारांग' का पहला सूत्र क्या है ? 'जो अंग जाणई, तो सव्वं जाणई' वह निर्ग्रंथ प्रवचन है, वह मूल बात है। तो मूल बात तो

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१६ पर)

द्रव्यदृष्टि प्रकाश पत्रांक-१७ पर पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन, दि.२५-७-१९९१

'मोक्षमार्गीको कुटुंबीजनों मध्ये सुख मिलता होवे, यह कल्पना ही गलत है।' मोक्षमार्गीको कुटुंबियोंके बीच सुख मिले, मिलता होवे - यह कल्पना है। अपनी योग्यता अनुसार जीव कल्पना करता है। खुदकी भी ऐसी योग्यता है न ! कि, उसे कुटुंबके बीच सुहाता है। अपने सगे हो, अपने स्वजन हो, प्रियजन हो, (उनके बीच) अच्छा लगता है। ऐसी एक ज्ञानीके लिये फिर कल्पना हो जाती है। परंतु बनारसीदासजीने जो कहा ऐसी (ज्ञानीपुरुषकी अंतरंग) स्थिति होती है। 'काल सौ कुटुंब काज लोक लाज लार सी।' कुटुंबके कार्य कालरूप लगे। ऐसी दशा तो आत्मार्थीकी भूमिकामें ही हो जाती है।

जब भी कोई अपने आत्माके (हितके) साधन हेतु दूसरी सब जगहसे उदासीन होकर, उपेक्षित होकर एक निजकार्यमें सावधान होकर संलग्न होता है तब उसे दूसरे-दूसरे उदयके कार्य जो कुटुंबके लिए करने पड़ते हैं, वे बोझरूप लगने लगते हैं। यह एक आत्मार्थीकी भूमिकाका भी लक्षण है - आत्मार्थीका स्वरूप है कि उसे कुटुंबके कार्य करने पड़ रहे हैं। करनेका उत्साह तो नहीं है किन्तु करने पड़ते हों वे भी उसे बोझरूप लगते हैं। फिर ज्ञानीके लिए ऐसी कल्पना करना कि उन्हें कुटुंबीजनोंके बीच बहुत सुहाता होगा ! (यह सिर्फ कल्पना है।) इसके लिए बनारसीदासजीने स्पष्ट किया कि, 'काल सौ कुटुंब काज,...' (कुटुंबके कार्य) काल जैसे दिखते हैं। ये कहाँ मुसीबत आ पड़ी ? कुटुंबका कार्य कहाँ आ पड़ा ? ऐसा (लगता है)।

अतः ऐसे जीवोंके कौटुंबिक कार्योंका बोझ दूसरे लोग उठानेका प्रयत्न करते हैं। जैसे कि कोई आत्मार्थी हो तो उसे कहेंगे कि, भाई ! आपको यदि आत्मकार्यके लिए निवृत्ति चाहिये, तो उस निवृत्तिके लिये मदद करनेके लिए हम तैयार हैं। और जिस प्रकार इसमें मदद करते हुए हमें (जो) बोझ उठाना पड़े वह आपके कार्यका बोझ हम उठा लेंगे। आप अगर आत्माका कुछ करते हो तो आप अपने आत्माका विशेषरूपसे (हित) करें ऐसी हमारी

अनुमोदना है।' - इसका नाम है वात्सल्य।

'उसे तो निरंतर आत्मरमणता चाहिये।' मोक्षमार्गीको तो आत्माकी रमणता चाहिये। और कुछ नहीं चाहिये। 'अरे ! जिसे धार्मिक जनोंके संग भी नहीं रुचते, उसे कुटुंब



संग तो रुच ही कैसे सकता है !' यह अवतरण चिह्न उन्होंने इसलिये किया है, क्योंकि कलकत्ताके (मुमुक्षु मण्डलसे वे थोड़े अलग हो चुके थे। जब उन्होंने वाचन छोड़ दिया तब उन्हें मुमुक्षुमण्डलमें आनेवाले सामान्य मुमुक्षुओंकी योग्यताका खयाल आ गया। उन्होंने देखा कि, इसमें कोई संग करने योग्य जीव नहीं हैं। भले ही धार्मिकजन हैं फिर भी, धार्मिक दृष्टिसे संगके योग्य नहीं हैं।

मुमुक्षु :- यहाँ 'लोक लाज लार सी' कहा इसका मतलब क्या ?

पूज्य भाईश्री :- 'लोक लाज लार सी' इसमें क्या है ? कि जगतमें लोकलाजकी कीमत बहुत है। 'लोकलाज लारसी' कहनेमें बनारसीदासजीका अभिप्राय ऐसा है कि जगतमें लोक-लाजके वश आदमी दबावमें आकर भी (काम) करता है। नहीं करना हो वह दबावमें आकर भी करेगा। दृष्टांत ले तो कोई अनुचित कार्य जीव नहीं करता, उसकी करनेकी इच्छा हो तो भी नहीं करता, क्यों नहीं करता ? क्योंकि लोगोंकी लाज आड़े आती है।

मुमुक्षु :- लोकसंज्ञा गिने इसे ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, लोकसंज्ञा कहो - लोकलाज कहो (दोनों एक ही हैं)। लोकसंज्ञा थोड़े विस्ताररूप अर्थमें गिनी जाती है। वैसे तो क्या है खुदकी लोकलाजसे जो करना पड़े सो करे। अभिप्रायपूर्वक न करे। कर्तव्यरूप अभिप्रायसे न करे। इसप्रकार अत्याधिक कीमत लोगोंको देता है। खुद पर लोकलाजकी कीमतका प्रभाव रहता

है कि, जिसके कारण इच्छा विरुद्ध जाकर लोकलाजके खातिर भी करता है। इसकी कीमत जगतमें इतनी अत्याधिक है, जब कि ज्ञानियोंको इसकी कीमत मुखकी लार जितनी है। मुखसे लार गिरती हो तो भले ही गिर जाये उसे वापिस लेनेकी कोई जरूरत नहीं। इस प्रकार लोकलाजकी कोई कीमत नहीं है। मुखकी लार जितनी इसकी कीमत है, ऐसा कहते हैं, इस प्रकारसे इसकी कीमत छुड़ाते हैं। इसकी कोई कीमत नहीं। लौकिक इज्जतकी कोई कीमत नहीं है। अतः यदि ज्ञानीके लिए कोई लोग ऐसा अभिप्राय बना ले कि ये तो बिलकुल मिलनसार नहीं हैं, किसीसे मिलते-झुलते नहीं, ठीक ! भले कहे तो कहे, इससे भी ज्यादा खराब कहना हो तो भले ही कहे। हमें तो भीतरमें अपना काम करना है न ! जिसको जैसा ठीक लगे वैसा कहे उसकी योग्यता अनुसार। उस लोकलाजके खातिर वे अपनी आराधनाको गौण कर दे और दूसरोंके अभिप्रायके अनुकूल चलनेका प्रयत्न करे, ऐसा नहीं बनता।

इस विषयमें तो मेरी थोड़ी अंगत चर्चा हुई है कि, जब उन्होंने (पूज्य सोगानीजीने) यह बात कही कि, मेरे संदर्भमें आप किसीसे कुछ मत कहना। उनके शब्द इस प्रकारसे थे कि 'मैं आशा करता हूँ कि आप मेरे विषयमें किसीसे कुछ नहीं कहेंगे।' उन्होंने देखा कि मेरे तो यहाँ (सोनगढ़में) ज्यादा संपर्क नहीं हैं, किन्तु इनका तो यहाँ कम-बेशी मात्रामें संपर्क है, दूसरेको बात करेंगे तो प्रसिद्धिका कारण हो जायेगा। अतः शुरुआतमें ही उन्होंने यह बात इन शब्दोंमें कही थी कि, 'मैं आपसे आशा करता हूँ कि आप मेरे विषयमें किसीसे कुछ नहीं कहेंगे।' अब, थे तो वे ज्ञानी लेकिन लोग इन्हें अज्ञानीके रूपमें जानते थे या उनके साथ एक मुमुक्षुके नाते अज्ञानी हो - ऐसा व्यवहार भी करते थे। लेकिन ज्ञानीको वह पसंद है। उसमें उन्हें कोई हरजा नहीं। भले ही अज्ञानी जानकर व्यवहार करे परंतु ज्ञानीके रूपमें प्रसिद्धि होनेके बाद अनेक प्रकारके जो उपद्रव शुरु होते हैं, उस उपद्रवकी उपाधि वे नहीं चाहते थे। और ऐसा था उसमें भी इनकी विचक्षणता है या ज्ञानीका ज्ञानत्व है। अज्ञानीके जैसे रहनेमें भी

ज्ञानीका ज्ञानत्व है। अभी तो काल बहुत हीन है, (लेकिन) श्रीमद्जीने १०० साल पहले लिखा है कि, अज्ञानी होकर रहना है, अतः उपद्रवका कोई प्रसंग पैदा न हो।

मुमुक्षु :- दूसरे अनभिज्ञ लोगोंको तो नुकसान हो जाये न !

पूज्य भाईश्री :- इसमें ऐसा है कि, पात्रतावाले ठिकाने आ जाते हैं। पात्रतावाले ठिकाने आ जाते हैं। और प्रसिद्ध हुए तो भी सबको कोई एक सरीखा अभिप्राय है, ऐसा तो अभी भी नहीं देखा जाता। और वे स्वयं भी दूसरोंकी चिंता करने कहाँ जाये ? वे खुद अपनी चिंता करे या दूसरोंकी करें ? मुझे क्या नुकसान होगा, यह विचार पहले करते हैं। उनका ऐसा अभिप्राय नहीं होता कि, मैं दूसरोंका भला कर दूँ या मैं दूसरोंका भला हो उसमें निमित्त बनूँ - ऐसा अभिप्राय नहीं है। (अभिप्राय तो ऐसा होता है कि) मैं तो मेरा करने निकला हूँ, मेरा हित करनेकी किसी एक भूमिकामें मुझे बहुत तीव्र भावना हुई थी, बहुत तीव्र भावना होने पर मेरे हितका प्रसंग भी आया, और मेरा हित हुआ भी सही; परंतु अभी मेरा पूरा-पूरा हित नहीं हुआ, और पूरा हित करनेकी मेरी शीघ्र इच्छा है तो फिर मैं मेरे काममें लग जाऊँ और ऐसा मेरा काम पूरा करनेमें यदि कोई विक्षेप होनेका प्रकार उत्पन्न होता हो तो इससे मुझे हटकर चलना चाहिये। इससे दूर रहकर सावधानीपूर्वक चलना चाहिये। यदि मैं इससे संभलकर नहीं चला तो उसमें फँसनेकी बारी आयेगी। इसलिए विवेक करते हैं। अपने हित संबंधित विवेक करते हैं।

अतः आखिरके समयमें जब लोगोंका थोड़ा परिचय बढ़ गया था तब भी उन्होंने ऐसी बात कही थी कि, १२-१४ आना निवृत्त हो चुका हूँ। धंधा लड़कोंने संभाल लिया है। कहा कि 'छोटी-मोटी बातमें (लड़के) लोग पूछ लेते हैं, बाकी १२-१४ आना निवृत्त हूँ। अभी तो पूर्ण निवृत्ति लेकर बैठ जाना है।' तब मैंने कहा कि 'फिर तो सोनगढ़ ही आयेंगे न !' तो उन्होंने कहा, 'अभी निर्णय तो नहीं किया है परंतु सोनगढ़ आना हुआ तो भी दो दफे गुरुदेवका व्याख्यान और मैं और मेरा कमरा, ये चर्चा-फर्चा नहीं चलेगी।' ठीक ! सुबह-दोपहर और शाम



चर्चाके लिए सब इकट्ठे हो जाते थे, ऐसा नहीं होगा। कह दिया कि, ये चर्चा-फर्चा फिर मैं चलानेवाला नहीं हूँ। वहाँ मैं निवृत्तिके स्थलमें आऊँगा तो मैं और मेरा कमरा। एक दफे गुरुदेवका व्याख्यान, इसके अलावा मैं कोई प्रवृत्ति नहीं करूँगा। फिर एक बात की थी कि, 'भूतकालमें भी मुझे साधर्मियोंका संग छोड़नेमें दिक्कत हुई थी, अभी मुझे कोई परिचय बढ़ाना नहीं है।' अतः उन दिनोंमें तो आते थे लेकिन अंदरमें उनका अभिप्राय क्या था ? १९५४के सालमें अभी तो वाचन (चालू) है फिर भी पत्रमें उनका अभिप्राय क्या निकला है, कि 'जिसे धार्मिक जनोके संग भी नहीं रुचते,...' क्योंकि जो आते थे उनकी योग्यताका खयाल तो आ चुका था। देखा कि कुछएक तो विरोध करते हैं, वह पता होता ही है, खयाल तो आ ही जाता है कि इसको बात बैठती नहीं है। इसलिए भले ही वह धार्मिक जन कहा जाता हो परंतु उसका संग उन्हें नहीं रुचता। 'उसे कुटुंब संग तो रुच ही कैसे सकता है !' क्योंकि कुटुंबीजन तो इतना भी नहीं समझते; ये तो फिर भी चर्चा करनेके लिए इकट्ठे होते हैं। कुटुंबियोंमें घरमें स्त्री-बच्चे आदि तो अभी A, B, C, D भी नहीं समझते हैं तो इनके साथ तो कैसे रुचे ?

मुमुक्षु :- जैसे कृपालुदेवका लोग ज्ञानीके रूपमें अनुसरण करते थे वैसे सोनगढ़में चर्चामें आनेवाले व्यक्ति कि जो सोगानीजीकी चर्चामें आते थे वे लोग ज्ञानीके रूपमें अनुसरण करके आते थे या दूसरे विद्वानोंकी जैसे प्रवृत्ति चलती थी वैसे सम्मिलित होते थे ?

पूज्य भाईश्री :- ना, बस ऐसे ही। करीब (दूसरेके) जैसे ही। फिर अंदरमें मनके परिणामका तो पता न चले। परंतु ऐसा तो शायद ही कोई निकले कि जिसे पहचान हो। बाकी सामान्यतः वहाँ तत्त्वज्ञान विषयक प्रवृत्तिमें जो सुनानेवाला हो उसे सुननेवाले मिल जाते हैं। ऐसी एक रूढ़ि है, अतः उस रूढ़िके अनुरूप ही करीब-करीब परिस्थिति थी। चलो ! यहाँ चर्चा चलती है, जाकर सुनें। फिर इनकी तो पद्धति थोड़ी विशिष्ट प्रकारकी थी इसलिए लोगोंका कुतूहल भी बढ़ता था (लेकिन) पहचान होना

तो बिलकुल अलग ही बात है, ज्ञानीके रूपमें माने लेकिन ओघसंज्ञासे माने वह दूसरी बात है, न माने वह दूसरी बात है और माने तो ओघसंज्ञासे माने वह भी दूसरी बात है, और पहचानपूर्वक माने यह तो तीसरी बात है।

'अरे ! विकल्पाश्रित पदार्थसे भी लाभ नहीं, साथ ही विकल्पसे भी लाभ नहीं।' विकल्पके विषयभूत कोई पदार्थसे आत्माको लाभ नहीं है और ऐसे विकल्पोंसे भी इस आत्माको कोई लाभ नहीं। - इस अभिप्रायमें वे खड़े हैं।

आपने लिखा कि 'निमित्त-नैमित्तिक संबंध एवो छे के तीव्र भावना होय तो पापनो उदय पलटीने पुण्यनो उदय थई जाय।' (यानी कि) आपका पापका उदय है इसलिए आप गुरुसंगमें नहीं आ सकते हो परंतु यदि सचमुचमें आपकी तीव्र भावना होती तो आपका पापका उदय पलटकर पुण्यका उदय हो जाये, तो आपको गुरुदेवका संग मिले, परंतु आपकी भावनामें क्षति है। ठीक ! थोड़ा उलाहना देते थे। उलाहना बहुत देते थे। उस बातका उन्होंने उत्तर दिया है कि, 'विकल्पानुसार पदार्थकी प्राप्ति होना पुण्य नहीं है,...' क्या (कहा) ? पुण्य किसे कहें ? कि विकल्पानुसार बाहरमें पदार्थकी प्राप्ति हो जाये इसलिए पुण्य है, ऐसा नहीं है। 'वरन् तीव्रता पलटकर मंदता होना पुण्य है।' (इस वाक्यमें) कषाय शब्द अध्याहार है। कषायकी तीव्रता मिटकर मंदता होना वह पुण्यभाव है और कषायकी तीव्रता होना पापभाव है। 'अतः राग छूटने अथवा कम होनेमें सुख है,...' उस दृष्टिसे देखे तो रागका रस कम हो, या रागका रस मिट जाये उसमें आत्माको सुख है। 'पदार्थके मिलनेमें नहीं।'

मुमुक्षु :- पुण्यकी व्याख्या कैसी की है !

पूज्य भाईश्री :- कितनी तात्त्विक व्याख्या की है !! ये भी विशिष्टता है। ज्ञानियोंके ज्ञानकी यह विशिष्टता है कि, जिसे तत्त्वदृष्टि होती है उसकी बात भी कोई दूसरे ढंगसे आती है। और उसमें तत्त्व भरा होता है।

'अतः आत्माश्रित रागकी मंदता होवे, यह ही भावना है।' इसलिए आत्माका आश्रय करते-करते रागका रस कम हो जाये - ऐसी भावना है। दूसरी भावना नहीं।



छोड़कर बाहर चली जाती है। दृष्टि को पूरा तद्रूप-तन्मय नहीं करता इसलिये कार्य नहीं होता; इस प्रकार अपना ही कारण (दोष) है।

(स्वानुभूतिदर्शन-१८७)



प्रश्न :- आजकल ध्यान पद्धति चल रही है कि श्वासोच्छ्वास रोको, मनको खाली करो तो तुम्हें भीतर से आत्म-विचारों का स्फुरण होगा। तो क्या ऐसा ध्यान कुछ सहायक हो सकता है ?

समाधान :- वह शुभभावनारूप है। उसमें (मनकी) एकाग्रता हो, परन्तु सच्चा ध्यान तो अपने में सच्चा ज्ञान हो, तत्त्व को मूलमें से - स्वभावमें

से - पहिचाने तब होता है। सच्चा ज्ञान हो तब सच्चा ध्यान होता है, इसलिये तत्त्व को ग्रहण करना। स्वयं अपने ज्ञान द्वारा सूक्ष्म उपयोग करके अपने को ग्रहण करे तो उसमें सच्ची एकाग्रता होती है। वैसे श्वासोच्छ्वास तो उसने कई बार रोका है और उसमें एकाग्रता भी की है, परन्तु जबतक आत्मा के अस्तित्व का ग्रहण नहीं हुआ तबतक मात्र मनकी एकाग्रता होती है। मूल आत्मा का अस्तित्व ग्रहण किये बिना केवल मनकी एकाग्रता कुछ काम नहीं आती।

(स्वानुभूतिदर्शन-१८८)



(पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन)

हरजगह कहीं न कहीं रह गई है। अपने तो मूल बात से सम्बन्ध है, दूसरी बात से सम्बन्ध नहीं है। मूल बात को जाने और वहाँ स्थिर होवे - उसको पकड़े।

‘ऐसे सूक्ष्म स्वरूप को स्थूल बनाकर व्यासजीने अद्भूत भक्ति का गान किया है। यह कथा और समस्त भागवत इस एक को ही प्राप्त कराने के लिये अक्षरशः भरपूर है।’ आत्मा को प्राप्त कराने की वह बात है। ‘और वह मुझे (हमें) बहुत समय पहले समझ में आ गया है;...’ उनलोगों को समझ में आये कि नहीं आये ! वह तो कृष्ण को भगवान मान करके समझते हैं, हमको हमारे ज्ञान में तो दूसरी रीत से सब समझ में आया है।

‘आज अति अति स्मरण में है; क्योंकि साक्षात् अनुभवप्राप्ति है;...’ इसलिये वह बात ज्यादा स्मरण में आयी। ‘और इसी कारण आज की परम अद्भुत दशा है।’ अपनी दशा की खुल्ली चर्चा की है। ‘ऐसी दशा से जीव उन्मत्त भी हुए बिना नहीं रहेगा;...’ ऐसी दशा आयेगी तो दूसरों को पागल दिखेगा कि यह क्या पागल हो गया है ? मान लो न पागल हो गया है तो हो गया है ! अब ज्ञानी को जगत के Certificate की जरूरत नहीं है।

‘और वासुदेव हरि जानबूझकर कुछ समय के लिये अदृश्य भी हो जायें, ऐसे लक्षण के धारक हैं।’ कैसी बात लिखी है ! कोई च्युत हो जाय तो अनुभवदशा छूट जाये। ये वासुदेव हरि हैं (वे) थोड़ा अपलक्षणवाले हैं, कभी-कभी अंतर्धान हो जाते हैं ‘इसलिये हम असंगता चाहते हैं;...’ कि (उन्हें) अंतर्धान होने देंगे नहीं। ‘और आपका सहवास भी असंगता ही है, इसलिये भी वह हमें विशेष प्रिय है।’ असंगता से भी आपका समागम हमको ज्यादा प्रिय है।

इस तरह से सत्संग का भी माहात्म्य बताया और पराभक्ति क्या चीज होती है ? और उससे कितने लाभ की प्राप्ति होती है ? वह सब बात ली। यहाँ तक रखते हैं।

विशेष कहेंगे...

## पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा



प्रश्न :- जुदा पाड़ने का अभ्यास करे तो क्या ऐसा एक क्षण आता है जब परिणति अभेद हो जाय ?

समाधान :- हाँ; जुदे पाड़ने का अभ्यास करे तो परिणति न्यारी हो जाती है। कितनों को अकुलाहट होती है इसलिये थक जाते हैं; परन्तु स्वयं प्रयत्न करते रहना, उसमें अकुलाना या थकना नहीं। स्वयं उत्साह से तथा धैर्य से प्रयत्न करना। प्रयत्न करे तो प्रगट हुए बिना रहता ही नहीं। जिसे अपनी जिज्ञासा तथा प्रयत्न अपनी ओर है उसे समय लगे लेकिन हुए बिना नहीं रहता। अपने को लगन-रुचि है और कारण दे तो कार्य आये बिना नहीं रहता। जबतक कार्य न हो तबतक समझना कि कारण में कमी है।

(स्वानुभूतिदर्शन-१८५)



प्रश्न :- आपको पूर्वभूमिका में क्या विचार चलते थे ?

समाधान :- मोक्ष क्या है ? एकान्त दुःख क्यों है ? मोक्ष की आवश्यकता किसलिये ? पुण्य-पाप दोनों दुःख का कारण कैसे ? - ऐसे अनेक प्रकार के विचार करके निर्णय किया था। शकर और कालीजीरी इस दृष्टान्त के विचार आते और वह अपनी बुद्धि से किसप्रकार बैठे ऐसे सब विचार चलते। उन दिनों जो-जो विचार आते वे सब लिखलेने की आदत थी इसलिये अपने लिये लिख लेती थी; ताकि मुझे पुनः विचारने में काम आये। धुन तो ऐसी लगी रहती कि हरएक कार्यमें आत्मा जुदा है, आत्मा जुदा है ऐसे रहता। फिर ऐसे लगे कि आत्मा जुदा है ऐसा निर्णय तो किया परन्तु जुदा रहता तो नहीं है - ऐसे कर-करके इसतरह सभी विचार करती। गृहकार्य करूँ तब

भी आत्मा जुदा है, आत्मा जुदा है ऐसी धुन रहती। स्वानुभूति का मार्ग अंतरमें जुदा है और

अन्तर से स्वानुभूति होती है ऐसा गुरुदेवने जो बताया है उसपर विचार चलते थे।

(स्वानुभूतिदर्शन-१८६)



प्रश्न :- हमें करना कैसे ?

समाधान :- भेदज्ञान प्रयास करने से होता है, प्रयास बगैर नहीं होता। मात्र मंथन करते-करते भेदज्ञान हो जाय ऐसा नहीं बनता; किन्तु परिणति को जुदी करते-करते हो जाता है। किन्तु वैसा ध्येय होना चाहिये। परिणति को जुदी करने-स्वभाव को जुदा पाड़ने का ध्येय होना चाहिये। और वह प्रयास करते-करते होता ही है। क्यों ? स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं। विश्वास एवं प्रतीति को छोड़ना नहीं; श्रद्धा तो बराबर करनी। प्रयास कम-अधिक हो परन्तु श्रद्धा तो बराबर करनी कि इस मार्ग और इसी रीति से प्रयास करने से (कार्य) होना ही है। जैसे कि 'यहाँ गाँव (जाना) है' ऐसा निश्चय होने के बाद धीरे चला जाये तो भी चल तो रहा है। उसी प्रकार (यहाँ) निश्चय-दृढ़ता करे तो कार्य हुए बिना नहीं रहता। श्रद्धा में हारना नहीं, श्रद्धा बराबर करना। जैसी देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा दृढ़ रखता है वैसे ही इसी मार्ग से ही आत्मा प्राप्त हो सकेगा ऐसी श्रद्धा बराबर रखना।

अपने पुरुषार्थ की मन्दता है, कारण पूरा नहीं देता, वहाँ दृष्टि को स्थिर नहीं करता। दृष्टि कुछ देर के लिये स्थिर हुई न हुई इतने में हट जाती है, इसलिये भेदज्ञान नहीं होता। रस बाहर दौड़ जाता है इसलिये परिणति भी अपने को

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-१६ पर)

लौकिकदृष्टि से आप और हम प्रवर्तन करेंगे तो फिर  
अलौकिकदृष्टि से कौन प्रवर्तन करेगा ?

आत्मा एक है या अनेक है, कर्ता है या अकर्ता है, जगत का कोई कर्ता है या जगत स्वतः है, इत्यादि विषय क्रमशः सत्संग में समझने योग्य हैं, ऐसा मानकर इस विषय में अभी पत्र द्वारा नहीं लिखा गया है।

सम्यक्प्रकार से ज्ञानीमें अखंड विश्वास रखने का फल निश्चय ही मुक्ति है।

आपको संसारसंबंधी जो जो चिंताएँ हैं उन्हें प्रायः हम जानते हैं, और इस विषयमें आपको अमुक अमुक विकल्प रहा करते हैं उन्हें भी जानते हैं। और आपको सत्संग के वियोग के कारण जो परमार्थचिंता भी रहती है उसे भी जानते हैं। दोनों प्रकार के विकल्प होने से आपको आकुलता व्याकुलता प्राप्त होती हो, इसमें भी आश्चर्य नहीं लगता अथवा वह असंभवरूप मालूम नहीं होता। अब इन दोनों प्रकारों के लिये हमारे मनमें जो कुछ है उसे स्पष्ट शब्दों में नीचे लिखने का प्रयत्न किया है।

संसार संबंधी आपको जो चिंता है उसे उदय के अनुसार वेदन करें, सहन करें। यह चिंता होने का कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करने के लिये प्रवृत्ति करते हुए ज्ञानीपुरुष को बाधा न आये। जबसे यथार्थ बोध की उत्पत्ति हुई है, तबसे किसी भी प्रकार के सिद्धियोग से या विद्या के योगसे स्वसम्बन्धी या परसम्बन्धी सांसारिक साधन न करने की प्रतिज्ञा है; और इस प्रतिज्ञा के पालन में एक पल के लिये भी मंदता आज दिन तक आयी हो यह याद नहीं आता। आपकी चिंता जानते हैं, और हम उस चिंता के किसी भी भाग को यथाशक्ति वेदन करना चाहते हैं। परंतु ऐसा तो कभी भूतकाल में हुआ नहीं है, तो अब कैसे हो सकता है ? हमें भी उदयकाल ऐसा रहता है कि अभी ऋद्धियोग हाथमें नहीं है।

प्राणीमात्र प्रायः आहार, पानी पा लेते हैं। तो आप जैसे प्राणी के कुटुम्ब के लिये उससे विपरीत परिणाम आये ऐसा मानना योग्य ही नहीं है। कुटुम्ब की लाज वारंवार आड़े आकर जो आकुलता उत्पन्न करती है, उसे चाहे तो रखें और चाहे तो न रखें, दोनों समान हैं, क्योंकि जिसमें अपनी निरुपायता है उसमें तो जो हो उसे योग्य ही मानना, यही दृष्टि सम्यक् है। जो लगा वह बताया है।

हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है वह तो आत्मा की स्वरूपपरिणति रहने के कारण है। आत्मा के स्वरूपसंबंधी तो हमें प्रायः निर्विकल्पता ही रहना संभव है, क्योंकि अन्यभाव में मुख्यतः हमारी प्रवृत्ति ही नहीं है।

बंध-मोक्ष की यथार्थ व्यवस्था जिस दर्शन में यथार्थरूप से कही गयी है, वह दर्शन निकट मुक्ति का कारण है; और इस यथार्थ व्यवस्था को कहने योग्य यदि किसी को हम विशेषरूप से मानते हों तो वे श्री तीर्थकरदेव हैं।

और आज इस क्षेत्र में श्री तीर्थकरदेव का यह आंतरिक आशय प्रायः मुख्यरूप से यदि किसीमें हों तो वे हम होंगे ऐसा हमें दृढ़तापूर्वक भासित होता है।

